Inspira- Journal of Modern Management & Entrepreneurship (JMME)
ISSN : 2231–167X, Impact Factor : 2.0778, Volume 07, No. 01, January, 2017, pp. 293-294

श्रीमद्भगवद्गीता–जीवन दर्शन

डॉ. ऋचा*

गीतासुगीताकर्त्तव्याकिमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यास्वयंपानाभस्य मुखमात् विनिः सृता।।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रसिद्ध महाकव्य महाभारत का अंश है। विश्व साहित्य में इसका अद्वितीय स्थान है। यह भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुख सेनिःसृतपरमर हस्यमयी दिव्य वाणी है।इसमें श्रीकृष्ण ने अुर्जन को निमित्त बनाकर मनुष्य मात्र के कल्याण के लिय उपदेश दिया है। श्रीमद्भगवद्गीता की महिमाअगाध और असीम है। यह ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी में परिगणित है। एक 'वैदिक–प्रस्थान' है, जिसे 'उपनिषद्' कहते हैं, एक 'दार्शनिक प्रस्थान' है, जिसे 'ब्रह्मसूत्र' कहते हैं और एक 'स्मार्त्तप्रस्थान है, जिसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहते हैं।

भगवद्गीता सार्वकालिक ओर सार्वजनीन ग्रन्थ है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी देश को हो, किसी भी समुदाय का हो, किसी भी सम्प्रदाय को हो, किसी भी वर्ण का हो, किसी भी धर्म का हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी भाषा का हो, यह सभी के लिये उपयोगी है। सदियों से यह ग्रन्थ मानव–मात्र का जीवन संगीत बन चुका है। जो कोई भी इसके दर्शन को अपने जीवन में धारणा करता है उसका जीवन संगीत सदृश मधुरत रंगो से भर जाता हैं। गीता के सिद्धान्तों पर चलने वाला मनुष्य न केवल अपने जीवन को सुखी बनाता है परन्तु औरों के जीवन में भी वह रस भर देता है और रस की निर्झरी बहा देता है।

विधाता द्वारा निर्मित इस सृष्टिमें यूंतो मनुष्य बहुविध हैं– अनेक प्रकार के, परन्तु मुख्यतः वेदो प्रकार के हैं– 1. दैवी सम्पदा से युक्त और 2. आसुरीसम्प दासे युक्त।

द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन्दैवआसुर एव च।

ऐसा कहा जाता है कि चौरासी लाख योनि यांपार करने पर ही मानव योनि मिलती है। एतदर्थ मानव जीवन दुर्लभ माना गया है। मनुष्य में पुशत्व प्रधार रहता है। मनुष्यत्व उसे अर्जित करना पड़ता है। अतः यदि इस संसरण शील लोक में वह सांसारिक सुखों को ही अपना लक्ष्य मान ले तो महती विनष्टि है। सांसारिक भोग–विलासों में आकण्ठ डूबे हुए ऐसे व्यक्तियों को ही गीता में 'असुर' कहा गया है।

'असुषुप्राणेषुरमन्तेऽसुराः प्राणपोषकपराः।'

'असुर' वे हैं जो प्राणों में ही रमण करते हैं, अपने ही मुख में सदैव भोजन की आहुति देते रहते हैं। वे जीने के लिये नहीं खाते, खाने के लिये जीते हैं; वे शरीर को ही आत्मा मानकर, रात– दिन उसी की उपासना में लीन रहते हैं। वे आहार, बल, दर्प, काम, क्रोध से युक्त होकर दूसरों की निन्दा और द्वेष करने वाले होते हैं। ये धन, मान और मद से समन्वित होते हैं और अपने ही मन से स्वयं को सर्वश्रेष्ठ और पूजनीय मानते हैं। वे कामोपभोग की हजारों प्रकार की कामनाओं और आशाओं मे बंधे रहते हैं।काम–क्रोध परायण होकर अन्याय पूर्वक धन सङ्ग्रह की चेष्टा करते है। वे सदा यह सोचते हैं कि, 'मैं बहुत धनी हूं, मैं बहुत मानी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है। वे सांसारिक, भोग–विलास और ऐन्द्रिक सुख को ही परम सुख मानते हैं।

* प्राचार्य, बाबा श्याम शि.प्र. महाविद्यालय, अजीतगढ़, सीकर, राजस्थान।

अनादिकाल से समाज में आसुरी वृत्ति वाले ऐसे लोगों का बाहुल्य रहा है और आज के इस भौतिकवादी समाज में भी है। सुरसा के शरीर की भांति आधुनिक समाज में इनकी सङ्ख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जा रही है। ऐसे में श्रीकृष्ण का मानव–मात्र को यही सन्देश है कि, 'काम, क्रोध और लाभ ये तीनों मनुष्य के अधः पतन के कारण हैं। अतः जीवन में इन तीनों को त्याग देना श्रेयस्कर है'। मनुष्य कोई सभोगोन्मुख, संसरणशील संसार में रहते हुए इन आसुरी वृत्तियों में डूबे न रहकर दैवी–वृत्तियों को अपनाना चाहिये।

तेज, क्षमा, धृति–धैर्य, शौच–शुद्धि, अद्रोह–द्वेष या शत्रुता का अभाव, अतिमानिता– अपने में पूज्यता–पूजा और प्रतिष्ठा के अभिमान का अभाव–ये सभी दैवी–सम्पदा हैं। मनसा–वाचा–कर्मणा अहिंसा को जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिये। सच बोलना चाहिये क्योंकि सत्य की ही जीत होती है झूठ की नहीं। किसी के द्वारा अपमान और निन्दापरक वचन सुनकर द्वेष पूर्ण उत्तेजनापरक वृत्तिका उत्पन्न होना ही 'क्रोध' है। मनुष्य को इन वृत्तियों से रहित होने का सतत प्रयत्न करना चाहिये।

मनुष्य को कर्त्तव्य कर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल–चिन्तन और स्वार्थ का सर्वथा त्याग करना चाहिये। दूसरे के दोषों को देखना, किसी की निन्दा या चुगली करना, उन्हें लोगों में प्रकट करना ठीक नहीं, इन्हें भी छोड़ना मनुष्य के लिये हितकर है। मनुष्य को प्राणी–मात्र पर दया रखनी चाहिये। किसी भी प्राणी को, वह चाहे किसी भी वर्ण, जाति, भाषा या धर्म का हो, दुःखी देखकर उसके दुःख को बिना किसी स्वार्थ के दूर करना चाहिये और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। वाणी, अन्तःकरण और व्यवहार में कोमलता लानी चाहिये। इनमें जो कठोरता है, उसका त्याग करना चाहिये। इन्द्रियों और विषयों का संयोग होने पर उनमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये। दूसरों को विषय भोग करते हुए देखकर उन विषयों के प्रतिमन को नहीं ललचाना चाहिये क्योंकि भोग नहीं भोग जाते हैं, हम ही भोगे जाते हैं। लोक और शास्त्र से विरूद्ध आचरण में लज्जा का अनुभव करना चाहिये। शारीरिक व्यर्थ–चेष्टाओं यथा हाथ पैर हिलाना, जमीन कुरेदना, नाखून चबाना, बेसिर–पैर की बातें सोचना आदि का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार के आचरण और सद्गुणों को धारण करने से मनुष्य शनैः–शनैः दैवी–सम्पदा से युक्त होते हैं। ऐसे देव पुरूष धारण स्वजीवन में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् में सौहार्द भर अपना और दूसरों का उद्धार कर देते हैं। फलस्वरूप समाज में भय और असुरक्षा का अभाव हो जाता है। साथ में मनुष्य को दान भी करना चाहिये। उसे कर्त्तव्य भावना से, निष्काम भाव से दान करना चाहिये, अहम्भाव से नहीं। जब वह ऐसा करता है तब उसके मन में प्रतिष्ठा के नाश का भय, अपमान का भय, निन्दा का भय, और यहां तक कि मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है। जब अन्तःकरण में राग–द्वेष, हर्ष–शोक, ममता–मोह, पाप और पुण्य का भाव समाप्त हो जाता है तब मन पवित्र हो जाता है। यही सत्त्व संशुद्धि हो जाती है तब स्वधर्म का पालन करने में जो कष्ट सहन करने पड़ते हैं, वे निरर्थक लगने लगते हैं। दान, दम्भ, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और आर्जव, मनुष्य को पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर ले जाने वाले हैं। एतदर्थ इन्हें ही जीवन में धारण करना चाहिये। अतः गीता का प्रथम सन्देश यही है कि प्रत्येक मनुष्य को इस जीवन में आसुरीवृत्तियों को त्यागकर दैवीय–वृत्तियों को धारण करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।

□□□